The Knowledge Spectrum: An International Peer-Reviewed Multidisciplinary Journal
ISSN: 3107-3557 (Online)

56

आधुनिक हिंदी साहित्य में राष्ट्रवाद और सामाजिक चेतना का द्वन्द्वात्मक अनुशीलन

Babalikumari
Research Scholar
Nilambar Pitambar University Medinipur Palamoo, Jharkhand

शोध सार :

साहित्य और समाज का संबंध अविभाज्य है। आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, भारतीय राष्ट्रीय नवजागरण और सामाजिक सुधारों का इतिहास है, जो रीतिकालीन श्रृंगारिकता और दरबारी संस्कृति से मुक्त होकर जन-जीवन की वास्तविकता के धरातल पर अवतरित हुआ। आधुनिकता का अर्थ केवल समय का बदलना नहीं, बल्कि दृष्टिकोण का बदलना है। इस बदलाव के दो प्रमुख स्तंभ रहे— 'राष्ट्रवाद' और 'सामाजिक चेतना'। जब भारत औपनिवेशिक दासता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था, तब साहित्य ने जनमानस में देश-प्रेम और स्वराज की भावना को प्रज्वलित किया, इसमें समाज सुधार की तीव्र आकांक्षा समाहित थी। परंतु हिंदी साहित्य के समक्ष यह यक्ष-प्रश्न हमेशा खड़ा रहा की क्या एक भूखा, शोषित और जातिगत भेदभाव का शिकार मनुष्य सच्चा राष्ट्रवादी हो सकता है? क्या सामाजिक न्याय के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ है? यह द्वंद्व भारतेंदु से लेकर प्रेमचंद और परवर्ती साहित्य तक विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ है। कभी राष्ट्रवाद ने सामाजिक प्रश्नों को गौण किया, तो कभी सामाजिक चेतना ने राष्ट्रवाद को अधिक समावेशी और जनवादी बनाया। यह शोध आलेख 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर 21वीं शताब्दी के आरंभ तक हिंदी साहित्य में 'राष्ट्रवाद' की बदलती अवधारणाओं और 'सामाजिक चेतना' के विविध आयामों का आलोचनात्मक परीक्षण करता है। यह आलेख दर्शाता है कि कैसे साहित्य में राष्ट्रवाद 'सांस्कृतिक गौरव' से शुरू होकर 'राजनैतिक स्वतंत्रता' और अंततः 'संवैधानिक और मानवीय अधिकारों' की मांग में परिवर्तित हुआ तथा आधुनिक हिंदी साहित्यकारों ने विचारों के टकराव और समन्वय के द्वंद्व को कैसे साधा।

बीज शब्द :

राष्ट्रवाद, सामाजिक चेतना, देश-प्रेम, सांस्कृतिक गौरव

प्रस्तावना :

आधुनिक हिंदी साहित्य जो 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के आसपास से अपनी स्पष्ट आकृति ग्रहण करता है, भारतीय जनमानस के संघर्षों, स्वप्नों और अंतर्विरोधों का जीवंत दस्तावेज है। इस कालखंड के साहित्य की केंद्रीय धुरी दो प्रमुख विचारधाराओं पर टिकी है; 'राष्ट्रवाद' और 'सामाजिक चेतना'। यद्यपि ये दोनों अवधारणाएँ सतही तौर पर एक ही उद्देश्य मानव मुक्ति की ओर जाती प्रतीत होती हैं, किंतु गहराई में उतरने पर इनके बीच एक निरंतर द्वंद्व और तनाव दिखाई देता है। हिंदी साहित्य में राष्ट्रवाद एक व्यापक सांस्कृतिक अवधारणा के रूप में उभरा है, जिसमें स्व-भाषा, स्व-संस्कृति और औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध सामूहिक अस्मिता का निर्माण शामिल है। यह वह शक्ति थी

जो बिखरे हुए समाज को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास कर रही थी। दूसरी ओर, 'सामाजिक चेतना' का तात्पर्य समाज के भीतर व्याप्त विषमताओं यथा जाति, वर्ण, वर्ग और लिंग आधारित शोषण के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि है। यह वह चेतना है जो राष्ट्र के भीतर दबे-कुचले वर्गों की पीड़ा को स्वर देती है और यथास्थिति को चुनौती देती है। जहाँ राष्ट्रवाद एकता पर जोर देता है, वहीं सामाजिक चेतना उन दरारों को इंगित करती है जो उस एकता को खोखला बनाती हैं।

हिंदी नवजागरण और द्वंद्व की शुरुआत: भारतेंदु युग (1850-1900) :

आधुनिक हिंदी साहित्य में उत्पन्न नई चेतना, जिसे हिंदी नवजागरण की संज्ञा दी गई, इसके अग्रदूत भारतेंदु को माना जाता है। इस कालखंड में राष्ट्रवाद और सामाजिक चेतना का संबंध एकरैखिक न होकर अत्यंत द्वन्द्वात्मक था। यहाँ एक ओर औपनिवेशिक सत्ता के प्रति मोह और विरोध का द्वैध था, तो दूसरी ओर अतीत के गौरव और वर्तमान की सामाजिक जड़ता के बीच संघर्ष। भारतेंदु युग में राष्ट्रवाद की नींव राजनीतिक से अधिक सांस्कृतिक थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने यह पहचाना कि राष्ट्रीय एकता के लिए संपर्क भाषा और सांस्कृतिक स्वाभिमान अनिवार्य है। उनका उद्घोष "निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल" केवल भाषाई प्रेम नहीं, बल्कि एक राष्ट्रवादी घोषणापत्र था। यहाँ सामाजिक चेतना का अर्थ अपनी जड़ों को पहचानने से जुड़ा था। अंग्रेजी शिक्षा के बढ़ते प्रभाव के बीच, अपनी भाषा और संस्कृति को बचाना ही उस समय का सबसे बड़ा राष्ट्रवाद था। यह वह दौर था जब साहित्यकार यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहे थे कि भारतीय समाज, अपनी तमाम कमजोरियों के बावजूद, एक महान परंपरा का वाहक है। भारतेंदु युग का राष्ट्रवाद अंध-राष्ट्रवाद नहीं था; उसमें तीखी सामाजिक आलोचना निहित थी। नाटक 'भारत दुर्दशा' इस द्वंद्व का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें भारतेंदु बाहरी शत्रु से पहले भीतरी शत्रुओं यथा आलस्य, मदिरा, अंधविश्वास, और अपव्यय को भारत के पतन का कारण मानते हैं। यहाँ सामाजिक चेतना राष्ट्रवाद की पूरक बनकर उभरती है। साहित्यकारों ने स्पष्ट किया कि जब तक समाज छुआछूत, बाल-विवाह, विधवा-विवाह निषेध और 'जाति-पांति' जैसी कुरीतियों में जकड़ा रहेगा, तब तक मजबूत राष्ट्र की परिकल्पना अधूरी है। भारतेंदु का बलिया वाला भाषण "भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?" इसी सामाजिक सुधार के माध्यम से राष्ट्रीय उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है।

भारतेंदु युग के साहित्य में सबसे गहरा अंतर्विरोध 'राजभक्ति' और 'देशभक्ति' के बीच दिखाई देता है। भारतेंदु एक तरफ महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा कर रहे थे, क्योंकि उन्हें अंग्रेजी राज में 'कानून का शासन' और सामंती अराजकता से मुक्ति दिखती थी, लेकिन दूसरी तरफ वे आर्थिक शोषण को भी समझ रहे थे। भारतेंदु की ये पंक्तियाँ इस द्वंद्व को सजीव करती हैं: "अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥" यह केवल विरोधाभास नहीं, बल्कि उस युग की यथार्थवादी विवशता और विकसित होती राजनीतिक समझ थी। इस युग में सामाजिक चेतना का एक और द्वंद्व परंपरा और आधुनिकता के बीच था। "रचना-पद्धति की दृष्टि से 'भारत दुर्दशा' मिश्र रचना है, अर्थात् उसमें नवीन और प्राचीन का मिश्रण है। कथाभाग की दृष्टि से उसमे पूर्ण नवीनता है, क्योकि उसका उद्देश्य देशवत्सलतापूर्ण और समाज-संस्कारक है।"[1] राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र जैसे रचनाकारों ने सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य तो किए, लेकिन वे पूर्णतः पश्चिमी आधुनिकता को अपनाने के पक्षधर भी नहीं थे। वे एक ऐसे राष्ट्र की खोज कर रहे थे जो आधुनिक हो, पर जिसकी आत्मा भारतीय हो। उन्होंने 'छुआछूत' और 'जाति-पांति' की संकीर्णता पर प्रहार किया क्योंकि वे देख रहे थे कि ये सामाजिक बुराइयाँ राष्ट्रीय एकता में बाधक हैं। भारतेंदु युग में राष्ट्रवाद एक भावुक आवेग था, तो सामाजिक चेतना उस आवेग को यथार्थ की धरातल पर लाने वाला विवेक। समाज सुधार के बिना राष्ट्रवाद खोखला था, और राष्ट्रवाद के बिना समाज सुधार दिशाहीन। भारतेंदु युग ने इन दोनों को एक साथ साधने प्रयास किया।

आदर्शवादी राष्ट्रवाद और सुधारवाद : द्विवेदी युग एवं छायावाद (1900-1936) :

बीसवीं सदी के आरंभ के साथ हिंदी साहित्य ने भारतेंदु युगीन द्वैध से बाहर निकलकर गंभीरता और अनुशासन के युग में प्रवेश किया। इस कालखंड को दो प्रमुख धाराओं द्विवेदी युग और छायावाद में विभक्त किया जाता है। इन दोनों युगों में राष्ट्रवाद और सामाजिक चेतना का द्वंद्व आदर्श बनाम यथार्थ और सांस्कृतिक गौरव बनाम मानवीय पीड़ा के रूप में प्रकट हुआ। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नैतिक अनुशासन में पले-बढ़े इस युग का साहित्य सुधारवादी राष्ट्रवाद का प्रबल समर्थक था। "द्विवेदी-युग जागरण, सुधार एवं नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का युग था। हिन्दी-प्रदेश का शिक्षित समाज अँग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न हो रहा था। उसमें सामाजिक सुधार एवं राष्ट्रीय गौरव की रक्षा के प्रति अपूर्व उत्साह था।"[2] यहाँ राष्ट्रवाद का स्वरूप पुनरुत्थानवादी था। मैथिलीशरण गुप्त की कालजयी कृति 'भारत-भारती' (1912) इस चेतना का सबसे सशक्त दस्तावेज है। गुप्त जी ने राष्ट्रवाद को परिभाषित करने के लिए अतीत के स्वर्णिम दर्पण का प्रयोग किया। उनका प्रसिद्ध प्रश्न— "हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी?" केवल एक पंक्ति नहीं, बल्कि राष्ट्रवाद और सामाजिक चेतना के द्वंद्व का सार है। 'हम कौन थे' (अतीत) का उत्तर देते समय गुप्त जी वेदों, उपनिषदों और आर्य गौरव का गान करते हैं, जो राष्ट्रवाद को ऊर्जा देता है। किंतु, 'क्या हो गए हैं' (वर्तमान) का उत्तर देते समय वे तत्कालीन सामाजिक पतन यथा अशिक्षा, जाति-भेद, आलस्य और आपसी फूट को नग्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। यहाँ सामाजिक चेतना पश्चाताप के रूप में आती है। द्विवेदी युगीन कवियों के लिए समाज सुधार एक नैतिक कर्तव्य था। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और नाथूराम शर्मा 'शंकर' जैसे कवियों ने विधवाओं की दुर्दशा और छूआछूत पर लेखनी चलाई, लेकिन उनका समाधान क्रांति नहीं, बल्कि हृदय-परिवर्तन और चरित्र-निर्माण था।

1918 के आसपास जब छायावाद का उदय हुआ, तो राष्ट्रवाद का स्वरूप 'बहिर्मुखी' से 'अंतर्मुखी' और सूक्ष्म हो गया। छायावादी राष्ट्रवाद स्थूल राजनीतिक नारा न होकर एक व्यापक सांस्कृतिक चेतना थी। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों और कविताओं के माध्यम से एक ऐसे राष्ट्रवाद का निर्माण किया जो औपनिवेशिक हीनता-बोध का उत्तर सांस्कृतिक श्रेष्ठता से देता था। उनका गीत "अरुण यह मधुमय देश हमारा" भारत को केवल एक भौगोलिक इकाई नहीं, बल्कि मानवता के आश्रय-स्थल के रूप में प्रस्तुत करता है। प्रसाद का राष्ट्रवाद चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त के माध्यम से अतीत के गौरव को वर्तमान स्वाधीनता संग्राम की प्रेरणा बनाता है। यहाँ सामाजिक चेतना, सांस्कृतिक अस्मिता के वृहद आवरण में समाहित दिखाई देती है। किंतु, छायावाद के भीतर ही एक प्रबल द्वंद्व सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के रूप में उपस्थित था। निराला छायावाद के 'रोमानी राष्ट्रवाद' और 'कठोर सामाजिक यथार्थ' के बीच के सेतु और विस्फोटक दोनों हैं। एक ओर वे 'भारति जय विजय करे' जैसा राष्ट्रीय आह्वान लिखते हैं, तो दूसरी ओर वे इसी राष्ट्र के भीतर उपेक्षित मानव की पीड़ा को स्वर देते हैं। उनकी कविता 'भिक्षुक' राष्ट्रवाद के भव्य दावों के बीच एक भूखे मनुष्य की दयनीयता को खड़ा कर देती है:

"वह आता, दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता। पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक, चल रहा लकुटिया टेक।"

यह सामाजिक चेतना का वह नग्न यथार्थ था जो प्रसाद के मधुमय देश की रोमानी कल्पना से टकराता था। निराला ने 'विधवा' कविता में विधवा को "इष्ट देव के मंदिर की पूजा सी" कहकर न केवल उसकी पवित्रता स्थापित की, बल्कि समाज के पाखंड पर भी चोट की। इसी प्रकार 'तोड़ती पत्थर' में इलाहाबाद के पथ पर काम करती महिला मजदूर का चित्रण करके उन्होंने राष्ट्रवाद को अभिजात्य वर्ग के ड्राइंग रूम से निकालकर धूप और धूल में खड़ा कर दिया। इस कालखंड का द्वंद्व यह था कि साहित्यकार 'भारत माता' की अमूर्त, दैवीय छवि (राष्ट्रवाद) और 'भारत के गरीब जन' की

मूर्त, पीड़ादायी छवि (सामाजिक चेतना) के बीच झूलते रहे। जहाँ द्विवेदी युग ने नैतिकता के माध्यम से और प्रसाद ने संस्कृति के माध्यम से इस खाई को भरने की कोशिश की, वहीं निराला ने इस खाई को उधेड़ कर रख दिया। यही वह बिंदु था जहाँ से हिंदी साहित्य 'आदर्शवाद' को छोड़कर 'कठोर यथार्थवाद' की ओर मुड़ने को विवश हुआ।

यथार्थवाद का प्रखर द्वंद्व: प्रेमचंद और प्रगतिवाद (1936-1947) :

सन् 1936 हिंदी साहित्य के इतिहास में एक विभाजक रेखा के समान है। यह वर्ष प्रेमचंद के महाप्रयाण, उनकी कालजयी कृति 'गोदान' के प्रकाशन और 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना का साक्षी बना। इस कालखंड में राष्ट्रवाद और सामाजिक चेतना का द्वंद्व अपने चरम पर पहुँच गया। अब प्रश्न केवल 'अंग्रेजों को भगाने' का नहीं था, बल्कि यह तीखा प्रश्न खड़ा हो गया कि "अंग्रेजों के जाने के बाद सत्ता किसके हाथ में आएगी— महलों में रहने वाले सेठों के या खेतों में खटने वाले किसानों के?" यहाँ से हिंदी साहित्य 'आदर्शवाद' के आकाश से उतरकर 'यथार्थ' की खुरदुरी जमीन पर आ खड़ा हुआ। "युग-प्रवृत्ति एवं जीवन-प्रवाह के साथ निरन्तर आगे बढ़ते हुए प्रेमचन्द पहले व्यक्ति हैं, जो आदर्श के मोह को त्यागकर, अपनी अन्तिम रचनाओं में यथार्थ की कठोर भूमि पर उतर आये हैं।"[3] प्रेमचंद के साहित्य यात्रा में हम इस द्वंद्व को विकसित होते हुए देख सकते हैं। उनके दो प्रमुख उपन्यास— 'रंगभूमि' (1925) और 'गोदान' (1936) राष्ट्रवाद की बदलती हुई परिभाषाओं के दस्तावेज हैं। 'रंगभूमि' का नायक 'सूरदास' एक अंधा भिखारी है, जिसके पास अपनी जमीन के टुकड़े के अलावा कुछ नहीं है। जब पूंजीपति जॉन सेवक उस जमीन को हड़पना चाहता है, तो सूरदास का संघर्ष केवल निजी संपत्ति की रक्षा नहीं रह जाता, वह 'स्व' और 'राष्ट्र' की रक्षा का पर्याय बन जाता है। प्रेमचंद यहाँ दिखाते हैं कि एक दीन-हीन, सामाजिक रूप से उपेक्षित व्यक्ति ही सच्चा राष्ट्रवादी हो सकता है। सूरदास गांधीवादी मूल्यों का प्रतीक है। यहाँ राष्ट्रवाद और सामाजिक चेतना में 'समन्वय' दिखाई देता है, सूरदास की लड़ाई ही देश की लड़ाई है। किंतु, 'गोदान' तक आते-आते यह समन्वय टूट जाता है और एक भयानक अंतर्विरोध जन्म लेता है।

'गोदान' का नायक 'होरी' सूरदास की तरह जुझारू नहीं है; वह भारतीय किसान की उस नियति का प्रतीक है जो 'मर्यादा' और 'धर्म' के बोझ तले दबकर मर जाता है। यहाँ प्रेमचंद एक कड़वा सच उजागर करते हैं: "क्या एक भूखा किसान राष्ट्रवादी हो सकता है?" होरी के लिए स्वराज का अर्थ अमूर्त राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं है। जब तक महाजन, जमींदार और पुलिस का शोषण जारी है तब तक, देश में किसकी सरकार है, इससे होरी को कोई फर्क नहीं पड़ता। प्रेमचंद यहाँ राष्ट्रवाद की उस खोखली परत को उधेड़ते हैं जो सामाजिक न्याय की उपेक्षा करती है। रायसाहब (जमींदार) खद्दर पहनते हैं, सत्याग्रह में जेल जाते हैं और राष्ट्रवादी कहलाते हैं, लेकिन वही रायसाहब होरी का शोषण भी करते हैं। यह हिंदी साहित्य का सबसे बड़ा भ्रम-भंजन था। प्रेमचंद ने स्पष्ट कर दिया कि जो राष्ट्रवाद अपने ही समाज के शोषितों की सुध नहीं लेता, वह एक छलावा है।

1936 के बाद प्रगतिवाद ने इस द्वंद्व को एक वैचारिक आधार प्रदान किया। मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित लेखकों यथा - यशपाल, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध आदि ने राष्ट्रवाद की परंपरागत परिभाषा को चुनौती दी। उन्होंने तर्क दिया कि समाज राष्ट्र नामक इकाई से नहीं, बल्कि 'वर्ग' से संचालित होता है। इस दौर में साहित्य के समक्ष सबसे बड़ा संकट था— साम्राज्यवाद विरोधी लड़ाई (राष्ट्रवाद) और पूंजीवाद विरोधी लड़ाई (सामाजिक चेतना) को एक साथ कैसे साधा जाए? प्रगतिवादी कवियों के लिए राष्ट्र का अर्थ 'भूगोल' नहीं, 'जनता' थी। उन्होंने उस राष्ट्रवाद को शोषक वर्ग का हथियार मानकर खारिज कर दिया जो गरीबों को त्याग और बलिदान का पाठ पढ़ाता था, जबकि अमीर अपनी तिजोरियाँ भर रहे थे। यशपाल के उपन्यास 'दादा कॉमरेड' और 'देशद्रोही' इसी द्वंद्व को उभारते हैं। प्रगतिवादी साहित्य ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि आर्थिक स्वतंत्रता के बिना राष्ट्रीय स्वतंत्रता अधूरी है। नागार्जुन और

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में यह चेतना प्रखर रूप में मिलती है। उन्होंने राष्ट्रवाद के प्रतीकों के बजाय मजदूरों के पसीने और किसानों के फटे-हालों को राष्ट्र का असली चेहरा घोषित किया। 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' और 1947 की स्वतंत्रता के बीच हिंदी साहित्य एक अजीब कशमकश में था। एक तरफ देश को आजाद कराने का राष्ट्रवादी आवेग था, तो दूसरी तरफ भविष्य की अनिश्चितता का डर। प्रेमचंद और प्रगतिवादियों ने जिस यथार्थवादी द्वंद्व को उभारा, उसका निष्कर्ष यह था कि यदि राष्ट्रवाद का उपयोग आंतरिक शोषण को छिपाने के लिए किया जा रहा है, तो साहित्यकार का धर्म है कि वह उस राष्ट्रवाद का विरोध करे और सामाजिक चेतना का पक्ष ले। गोदान के 'गोबर' का विद्रोह इसी नई चेतना का संकेत था। वह मर्यादा को त्याग कर शहर जाता है और अपने अधिकारों के लिए लड़ना सीखता है। प्रेमचंद और प्रगतिवादी साहित्यकारों ने राष्ट्रवाद को भावुकता के आकाश से खींचकर रोटी और अधिकार के ठोस धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया।

स्वातंत्र्योत्तर मोहभंग और बिखराव (1947-1990) :

15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ, किंतु हिंदी साहित्य में यह उल्लास अधिक समय तक नहीं टिक सका। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही देश-विभाजन की त्रासदी और शरणार्थियों का हाहाकार आया, जिसने राष्ट्रवाद की भव्यता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। 1950 के बाद के दशकों में जैसे-जैसे शासन-तंत्र स्थापित हुआ, पर आम आदमी की स्थिति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया है। इस कालखंड में राष्ट्रवाद और सामाजिक चेतना का द्वंद्व राज्य-सत्ता के दावों और जन-सामान्य के जीवन-संघर्ष के बीच के तनाव के रूप में उभरा।

1954 में प्रकाशित फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास 'मैला आंचल' इस दौर का सबसे महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप है। रेणु ने 'आंचलिकता' के माध्यम से नेहरूयुगीन 'महान भारतीय राष्ट्रवाद' की एकरैखिक धारणा को खंडित कर दिया। मेरीगंज गाँव के माध्यम से उन्होंने दिखाया कि दिल्ली और पटना के राजनीतिक नारे गाँव की धूल तक पहुँचते-पहुँचते कैसे अर्थहीन हो जाते हैं। उन्होंने लिखा- "हम मामा के यहाँ गए थे। मामा के बड़े पुत्र का जग्योपवित था। प्रातःकाल उठके देखते हैं कि गाँव-भर के लौंडे इसी झंडा-पत्तखा लेकर 'इनकिलास जिन्दाबाघ' करते हुए गाँवों में घूम रहे हैं। मामा से पूछा कि 'मामा, क्या बात है?' तो मामा बोले कि गाँव के सभी लड़कों ने भोलटियरी में नाम लिखा लिया है। 'इनकिलास जिन्दाबाध' का अर्थ है कि हम जिन्दा बाघ हैं..."[4] 'मैला आंचल' में राष्ट्रवाद एक पवित्र भावना नहीं, बल्कि राजनीतिक अवसरवाद का हथियार बनकर आता है। बावनदास जैसा सच्चा गांधीवादी, जो राष्ट्रवाद और सामाजिक सेवा का आदर्श है, अंततः भारत-नेपाल सीमा पर तस्करों द्वारा मार दिया जाता है और उसकी लाश 'नो मैन्स लैंड' में पड़ी रह जाती है। बावनदास की मृत्यु केवल एक पात्र की मृत्यु नहीं, बल्कि उन आदर्शवादी मूल्यों की मृत्यु थी जिन पर राष्ट्रवाद टिका था। रेणु ने दिखाया कि स्थानीय समाज की पीड़ा (मलेरिया, गरीबी, अशिक्षा, जातिवाद) आदि इतनी विकट है कि उसके सामने 'स्वतंत्रता' शब्द बेमानी लगता है। यहाँ सामाजिक चेतना, राष्ट्रवाद के खोखलेपन को नग्न कर देती है।

यदि 'मैला आंचल' मोहभंग की शुरुआत थी, तो श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' (1968) उस मोहभंग का चरम था। यह उपन्यास स्वतंत्र भारत की उस व्यवस्था का एक्स-रे है जहाँ राष्ट्रवाद केवल भाषणों तक सिमट गया है। शिवपालगंज का वैद्यजी सहकारिता और कॉलेज जैसे आधुनिक लोकतांत्रिक संस्थान जो राष्ट्र निर्माण के प्रतीक हैं का उपयोग अपने भ्रष्टाचार और बाहुबल को पोषित करने के लिए करता है। 'राग दरबारी' में सामाजिक चेतना का स्वरूप अत्यंत कड़वा और व्यंग्यात्मक है। तत्कालीन शिक्षा व्यस्था पर तंज करते हुए श्रीलाल शुक्ल जी ने लिखा- "वर्तमान शिक्षा-पद्धति रास्ते में पड़ी हुई कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है।"[5] श्रीलाल शुक्ल यह स्थापित करते हैं कि राष्ट्रवाद अब 'त्याग' की नहीं, बल्कि 'लूट' की विचारधारा बन गया है। जब व्यवस्था ही जनविरोधी हो जाए, तो

राष्ट्रभक्ति का अर्थ क्या रह जाता है? यह उपन्यास उस द्वंद्व को समाप्त कर देता है जो पहले आदर्श और यथार्थ के बीच था; यहाँ अब केवल अवसरवाद ही एकमात्र सत्य है।

1960 के बाद 'नई कहानी' और 'साठोत्तरी कविता' ने इस द्वंद्व को और तीखा किया। अब लड़ाई विदेशी शत्रु से नहीं, बल्कि अपनी ही चुनी हुई संसद और व्यवस्था से थी। सुदामा पांडेय 'धूमिल' की कविताएँ इस दौर की सामाजिक चेतना का सबसे प्रखर स्वर हैं। उनकी यह पंक्ति- "क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है / जिन्हें एक पहिया ढोता है / या इसका कोई खास मतलब होता है?" सीधे राष्ट्रवाद के प्रतीकों से प्रश्न करती है। धूमिल संसद और सड़क के बीच के फासले को रेखांकित करते हैं। उनकी प्रसिद्ध कविता 'मोचीराम' और 'पटकथा' में वह व्यक्ति है जो राष्ट्र के विकास के नक्शे से बाहर कर दिया गया है। वह पूछता है:

"एक आदमी रोटी बेलता है एक आदमी रोटी खाता है एक तीसरा आदमी भी है जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है वह सिर्फ रोटी से खेलता है मैं पूछता हूँ—यह तीसरा आदमी कौन है? मेरे देश की संसद मौन है।" यहाँ 'संसद का मौन' होना राष्ट्रवाद की असफलता है, और 'तीसरे आदमी' की पहचान करना ही साहित्य की सामाजिक चेतना है। गजानन माधव मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' भी इसी भयावह सामाजिक यथार्थ का चित्रण है, जहाँ मध्यवर्गीय बौद्धिक व्यक्ति राष्ट्र के प्रति अपनी जिम्मेदारियों और सत्ता के दमनकारी चरित्र के बीच पिस रहा है। 1947 से 1990 के बीच हिंदी साहित्य ने राष्ट्रवाद के रोमानी आवरण को पूरी तरह उतार फेंका। साहित्यकारों ने यह सिद्ध किया कि यदि राष्ट्र का अर्थ केवल सीमाओं की सुरक्षा है और उसमें भूख, बेकारी और भ्रष्टाचार का समाधान नहीं है, तो ऐसा राष्ट्रवाद छलावा है। इस दौर की सामाजिक चेतना विद्रोह और अस्वीकार की चेतना थी।

समकालीन विमर्श: हाशिए का समाज और राष्ट्रवाद (1990-वर्तमान) :

बीसवीं सदी का अंतिम दशक हिंदी साहित्य और भारतीय राजनीति दोनों के लिए आमूलचूल परिवर्तन का दौर रहा। मंडल आयोग, आर्थिक उदारीकरण और बाबरी मस्जिद विध्वंस जैसी घटनाओं ने साहित्य की दिशा बदल दी। इस कालखंड में 'सामाजिक चेतना' ने 'अस्मिता मूलक विमर्श' का रूप ले लिया। दलित और आदिवासी विमर्श ने राष्ट्रवाद की उस 'एकांगी' अवधारणा को नकार दिया, जिसे अब तक मुख्यधारा कहा जाता था। यहाँ द्वंद्व 'विशिष्ट अस्मिता' और 'विराट राष्ट्रवाद' के बीच है। दलित साहित्य ने पहली बार राष्ट्रवाद के सांस्कृतिक गौरव के दावों पर तीखे सवाल उठाए। दलित चिंतकों और रचनाकारों का तर्क है कि जिस रामराज्य या वैदिक संस्कृति को राष्ट्रवाद का आधार बनाया जाता है, वह असल में दलितों के शोषण का इतिहास है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' (1997) इस द्वंद्व का सबसे ज्वलंत दस्तावेज है। वाल्मीकि जी जब अपनी पीड़ा बयां करते हैं, तो वे उस राष्ट्रवाद के मुंह पर तमाचा मारते हैं जो अपनी महानता के गीत गाता है। जब एक दलित छात्र को प्यास लगने पर स्कूल में पानी नहीं मिलता या उसे कक्षा में झाड़ू लगवाई जाती है, तो उसके लिए 'सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा' एक क्रूर मजाक बन जाता है। वाल्मीकि और अन्य दलित रचनाकारों (जैसे- मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, तुलसी राम) ने साहित्य में यह स्थापित किया कि "जातिविहीन समाज के बिना राष्ट्रवाद एक पाखंड है।" यहाँ सामाजिक चेतना, राष्ट्रवाद से अपनी हिस्सेदारी और गरिमा मांगती है। क्या वह राष्ट्र मेरा भी है, जो मुझे इंसान नहीं मानता? यह प्रश्न इस दौर के साहित्य के केंद्र में है। इसी दौर में आदिवासी साहित्य ने राष्ट्रवाद के 'विकास मॉडल' को चुनौती दी। 'राष्ट्र निर्माण' के नाम पर बनाए गए बांधों, खदानों और कारखानों ने आदिवासियों को उनकी जमीनों से बेदखल किया। "देश भर में बने ये डैम प्रधानमंत्री की भाषा में 'मंदिर थे विकास के', पर ग्रामीणों की नज़र में 'मकबरे थे विनाश के'। फिर भी लोग चुप रहे, इस आस में कि शायद उनकी कुरबानी देर-सबेर रंग लाएगी,

देश विकास करेगा, जिसमें उन्हें हिस्सेदारी मिलेगी, लेकिन मिला उन्हें विस्थापन और पलायन!"[6] मुख्यधारा का राष्ट्रवाद आदिवासियों के लिए आंतरिक उपनिवेशवाद बन गया है। यहाँ राष्ट्रवाद शोषक है और आदिवासी चेतना अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उससे संघर्षरत है।

भारतेंदु युग से लेकर वर्तमान साहित्य की यह द्वंद्व यात्रा को देखकर यह प्रश्न उठता है कि- राष्ट्रवाद और सामाजिक चेतना परस्पर विरोधी हैं या पूरक? तो आधुनिक हिंदी साहित्य की लगभग डेढ़ सौ वर्षों की यात्रा का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रवाद और सामाजिक चेतना हिंदी साहित्य की दो समानांतर पटरियाँ नहीं, बल्कि एक ही धारा की दो लहरें रही हैं जो निरंतर आपस में टकराती और एक-दूसरे को गति देती रही हैं। भारतेंदु युग में जहाँ यह संबंध सुधारात्मक और सहयोगात्मक था, वहीं द्विवेदी युग और छायावाद में यह आदर्श और नैतिकता के आवरण में रहा। प्रेमचंद और प्रगतिवाद के दौर में यह संबंध संघर्षात्मक हो गया, जहाँ पहली बार यह प्रश्न पुरजोर तरीके से उठा कि शोषण पर टिका हुआ राष्ट्रवाद स्वीकार्य नहीं हो सकता। स्वातंत्र्योत्तर काल का मोहभंग और समकालीन अस्मिता विमर्श इसी द्वंद्व की तार्किक परिणति हैं।

निष्कर्षतः हिंदी साहित्य में राष्ट्रवाद और सामाजिक चेतना परस्पर विरोधी प्रतीत होते हुए भी अंततः एक-दूसरे के पूरक सिद्ध हुए हैं। यह एक 'द्वन्द्वात्मक एकता' है। जब-जब राष्ट्रवाद ने अपनी आँखें मूंदकर केवल अतीत का गौरव गान करना चाहा, तब-तब सामाजिक चेतना ने उसे झकझोर कर जमीनी सच्चाई से जोड़ा। 'गोदान' के होरी की पीड़ा और 'जूठन' के वाल्मीकि के आक्रोश ने राष्ट्रवाद को भावुकता से निकालकर मानवीय गरिमा के धरातल पर खड़ा किया। दूसरी ओर, राष्ट्रवादी चेतना ने ही दबे-कुचले वर्गों को यह अहसास दिलाया कि वे एक वृहद समुदाय का हिस्सा हैं, जिससे उन्हें अपने अधिकारों के लिए लड़ने की शक्ति मिली। अतः, हिंदी साहित्य यह प्रमाणित करता है कि सामाजिक न्याय के बिना राष्ट्रवाद केवल एक आक्रामक नारा है, और राष्ट्रवाद के बिना सामाजिक चेतना केवल वर्ग-संघर्ष बनकर रह जाती है। सच्चा साहित्य वही है जो इन दोनों के बीच संतुलन साधता है। प्रेमचंद का कथन यहाँ आज भी प्रासंगिक है-"साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है।" हिंदी साहित्य ने यही मशाल थामकर राष्ट्र को यह बताया है कि समाज का एक बड़ा हिस्सा अगर भूखा, अपमानित और डरा हुआ है, तो राष्ट्र महान नहीं हो सकता।

संदर्भ सूची:

1. वार्ष्णेय, लक्ष्मी सागर, (संपा.), (1953), *भारत दुर्दशा,* गोरखपुर: विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ. 11
2. तिवारी, रामचन्द्र, (2016), *हिंदी का गद्ध साहित्य,* वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ. 56
3. वही पृ. 57
4. रेणु, फणीश्वरनाथ, (2017), *मैला आँचल,* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 28
5. शुक्ल, श्रीलाल, (2017), *राग दरबारी,* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 9
6. गुप्ता, रमणिका, (2015), *आदिवासी अस्मिता का संकट,* नई दिल्ली: सामयिक प्रकाशन, पृ. 15